पाकिस्तान का सफरनामा-५

स्तंभ/अनन्तर/जनसत्ता/९ अप्रैल, २००६

चित्रलिखित सभ्यता

ओम थानवी

सुबह दस बजे हमारी 'ब्लू लाइन' बस आखिर लाड़काणा पहुंची। बाजार से चली थी। बाजार में ही रुकी। कोई बस अड्डा भी होगा। पर जहां लोगों को सुभीता हो, आखिरी पड़ाव वहीं कामचलाऊ बस-अड्डे में तब्दील हो जाता है। वहां भी। यहां भी।

असबाब संभाला। चालक और खलासी को विदा दी। मैं उनके मौन पर फिदा था। हमारे यहां बस के दोनों साथी सतत बतियाते हैं। क्यों न चालक का ध्यान इससे बंटता हो। मगर इस 'लग्जरी बस' के सफर में खलासी की मैंने शायद आवाज ही नहीं सुनी। मुझे उसकी एक अदा याद रहेगी। वह चलती बस में आगे के दरवाजे से बाहर निकल कर छत की सीढ़ियां चढ़ जाता था और- शायद सामान दुरुस्त कर- उलटे पांव उतर भी आता। मजा यह कि उसके सिर पर बंधा ढीला-ढाला सफेद गमछा बाहर की तेज हवा में भी जमा रहता था। चालक के सिर पर सिंधी टोपी थी। अलविदा कहा तब भी दोनों चुप थे, पर उनकी आंखों में साफ झलकने वाली गरमाहट थी। हाथों में भी।

बस पर काजी साहब के दो सहयोगी हमारे इंतजार में थे। उन्होंने कहा कि हम तैयार होकर मूअनजो-दड़ो के लिए निकल सकते हैं। कितना फासला है? अट्ठाईस किलोमीटर। तब सीधे निकल पड़ें।

हम उनकी गाड़ी में टैक्सी स्टैंड की तरफ चल दिए।

इस बीच मैंने लाड़काणा को निहारा। सामने छोटा-सा रेलवे स्टेशन था। इतना उजाड़ जैसे बरसों से कोई रेलगाड़ी न आई हो न गई हो। छोटे ढाबे। उनके बाहर खुले में सजी मेज-कुर्सियां। खीर की तरह पकती चाय और उसे पोलीथिन में पैक करवा कर ले जाते रसिया। बाजार में कस्बाई रंगत वाली दुकानें। ठेले, खोमचे। मोटर-साइकिल जुते तिपहिए। हर तरफ अपनी रंग-बिरंगी खास टोपियों में सिंधी में गप लड़ाते लोग। उर्दू कराची में छूट गई। जैसे समंदर। यहां हर तरफ धूल है और कड़ी धूप। रेगिस्तान का सुखद अहसास कराती हुई।

लाड़काणा जुल्फीकार अली भुट्टो का शहर है। उन्होंने मुल्क का पहला आम चुनाव जीता। आठ साल राज किया। फिर फांसी चढ़ गए। उनके विरोधी प्रचार करते थे कि खजाना लुटाकर भुट्टो ने अपने शहर लाड़काणा को 'पेरिस' बना दिया। मैंने देखा, कस्बे की मुख्य सड़कों पर शान से हर तरफ भागती एक निराली सवारी ''गधा-गाड़ी'' है, इस पेरिस की सबसे अलग पहचान।

लाड़काणा सूफी फनकार आबिदा परवीन का भी शहर है। हमारे फिल्मकार कुमार शहानी का जन्म भी यहीं हुआ था। उनके पिता यहां के नामी वकील थे।

मूअनजो-दड़ो के लिए लाड़काणा से निकलने वाली सड़क अच्छी है। खेतों के बीच होकर जाती है। और अगली घड़ी मूअनजो-दड़ो। मंजिले-मकसूद!

कद में लंबे और शालीन गुलाब पीरजादा ने हमारी अगवानी की। उनके साथ अनवर और अब्दुल करीम थे। और साथी भी।

टूरिस्ट बंगले में पर्यटक नहीं थे। मैंने सोचा, लोग सुबह ही वह सब देखने निकल गए होंगे जिसके लिए आए हैं। बातचीत में मालूम हुआ कि बहुत कम पर्यटक यहां आते हैं। जो आते हैं उनमें ज्यादा परदेसी होते हैं। डाकुओं के आतंक की बदौलत उनकी आमद भी नहीं के बराबर हो गई है।

एक मन किया कि कुछ सो लें। वातावरण में सन्नाटा था। एक सधी हुई चुप्पी। मगर ठीक सामने, खिड़की के पार, मूअनजो-दड़ो का अजायबघर दीखता था। उसकी नंगी ईंटों वाली दीवार पर दो सफेद आकृतियां थीं। एक वृषभ, दूसरा हाथी। पहली ही नजर में कोई पहचान सकता था कि ये मूअनजो-दड़ो की खुदाई में निकली उन मुहरों के विराट रूपाकार हैं, जिन्होंने रातोरात दुनिया के सामने भारत के इतिहास का 'नक्शा' बदल दिया था। सौ साल पहले भारत का दुनिया में यह महज दावा था कि उसकी सभ्यता प्राचीन है। बीसवीं सदी की देहरी पर मूअनजो-दड़ो की खुदाई ने पहले हड़प्पा-कालीबंगा में हो चुकी खुदाई को समान रोशनी में देखा। और अंतत: उस खोज ने सिंधु घाटी को मिस्र और मेसोपोटामिया (इराक) की सुमेरी सभ्यता के समकक्ष ला खड़ा किया। जाहिर है, वह मूअनजो-दड़ो था जिसने सबसे पहले भारत के इतिहास को पुरातत्त्व का वैज्ञानिक आधार दिया। लोनली प्लेनेट- जो मूलत: अमेरिका का प्रकाशन है- की एक गाइड शुरू ही यों होती है: 'जब यूरोप के लोग जानवरों की खाल ओढ़ा करते थे और अमेरिका महज आदिम जातियों का इलाका था, यहां (सिंधु घाटी) के लोग धरती पर एक अत्यंत परिष्कृत समाज का हिस्सा थे... और नगर निर्माण में सबसे आगे।'

पुरातत्त्व को प्राचीन इतिहास का रोशनदान कहा जा सकता है। यह रोशनी प्रामाणिक साक्ष्यों पर आधारित होती है। दिलचस्प बात यह है

कि वैदिक काल से बहुत पुरानी ईसा पूर्व तीसरी सहस्त्राब्दि की सिंधु घाटी सभ्यता– जिसे हड़प्पा संस्कृति भी कहा जाता है– की कई गुत्थियां आज भी उलझी हुई हैं। यह आज तक साफ नहीं है कि सिंधु घाटी सभ्यता के बाशिंदे कौन थे। वे कहां गए? उनकी लिपि– जो दुनिया की चार प्राचीनतम उद्‌घाटित लिपियों में एक है– कोई भेद नहीं सका है। सात देशों के विशेषज्ञों की बरसों की मगजपच्ची के बावजूद। इतना ही प्रकट है कि वह चित्र–लिपि थी। इसके चार सौ चिह्न ढूंढ़े जा चुके हैं।

जो हो, सिंध के मूअनजो–दड़ो, पाक–पंजाब के हड़प्पा, हरियाणा के बनवाली, राजस्थान के कालीबंगा (बीकानेर) और गुजरात के लोथल और धौलावीरा (कच्छ) की खुदाई में हासिल पुरातात्त्विक अवशेषों ने यह अच्छी तरह साबित कर दिया है कि सिंधु घाटी नागर संस्कृति थी। समृद्ध और व्यवस्थित। उन्नत खेती और व्यापक व्यवसाय वाले लोग। उपकरणों का इस्तेमाल करने वाले और शुद्ध माप–तौल जानने वाले। उनका रहन–सहन और नगर नियोजन अनूठी प्रकृति का था।

इससे भी बड़ा उद्‌घाटन यह था कि वह साक्षर सभ्यता थी। इसलिए मैंने उसे सभ्यता का तीर्थ कहा। वह कला का भी तीर्थ है। यही बात मुझे सबसे ज्यादा आकर्षित करती है। इसी को अपनी आंखों से देखने यहां खिंचा चला आया। बेहद सुरुचिसंपन्न संस्कृति। जाने कितनी बार किताबों और इंटरनेट के जंजाल में चाक पर बने लाल मिट्टी के भाण्डों पर वे काली–भूरी रेखाओं वाले चित्र देखे हैं। वे असंख्य मुहरें, जिन पर बैल, हाथी (घोड़े नहीं), सांड़, गैंडा और चीता इतने सुडौल बने हैं कि रेखाओं और आकृतियों के शिक्षक आज, पांच हजार साल बाद, पलकें झपकाते हैं। यकीन न हो तो वह गले में लटकन वाला वृषभ देखिए जो अभी मेरे सामने दीवार पर एक हजार गुना बड़े आकार में चमक रहा है। या बगैर कूबड़ वाला वह रहस्यमय पौराणिक एक–शृंगी। या चांदी के बर्तन, तांबे के गहने। हाथीदांत की कंघी, कांसे का आईना। चूने–पत्थर की मूर्तियों में स्त्रियों का केशविन्यास। पत्थर की मुहर पर सींग–मुकुट–धर 'पशुपति'– वे चाहे किसी समुदाय के नाथ हों।

इस सबसे भी सौंदर्य–पिपासा न मिटे तो मूअनजो–दड़ो की दो जगत–विख्यात कृतियां– फुलकारी वाले दुशाले में लघु 'मुकुट' धारी दढ़ियल 'याजक–नरेश' (किंग–प्रीस्ट) और कांसे में ढली निर्वसन 'नर्तकी' (डांसिग गर्ल): गर्व से तना सिर, गले में हार और एक हाथ में कंधे तक कंगन! 'याजक–नरेश' कराची के संग्रहालय में है, 'नर्तकी' हमारे दिल्ली के राष्ट्रीय संग्रहालय में। उत्कृष्ट मूर्तिकला के दोनों प्रागैतिहासिक मानक स्तंभ हैं। 'नर्तकी' की मूरत के बारे में पुरातत्त्वविद मार्टिमर व्हीलर ने कहा था, ''मुझे नहीं लगता कि संसार में इसके जोड़ की कोई दूसरी चीज होगी।''

अब सोना नहीं होगा। तय किया कि जितना जल्द हो, तैयार होकर हम असल मूअनजो–दड़ो के खण्डहरों के बीच होंगे। अब नींद ही कहां आएगी। कल शोर ने नहीं सोने दिया। आज अतीत के सन्नाटे ने जगा दिया। सन्नाटे की गूंज शोर पर बहुत भारी जान पड़ती है।

तुरत–फुरत तैयार होकर हम सीधे नाश्ते की मेज पर पहुंचे। शाकाहार–मांसाहार की गफलत में अंदर ही कुछ देरी थी। गपशप में कुछ जगह के नाम की चर्चा चल पड़ी। मोहनजोदाड़ो है कि मोएनजोदड़ो? या मूअनजो–दड़ो! गुलाब की राय थी कि वे लोग मूअनजो–दड़ो बोलते हैं। फिर कहा, पर मोहन बोलने से क्या फर्क पड़ता है। किसी ने कहा हो सकता है मोहन नाम का कोई राजा रहा हो यहां। पर इसका कोई प्रमाण नहीं है। मूअन का कोई अर्थ है। हालांकि यह बात अपनी जगह सही है कि नाम में क्या रखा है। यह बात भी अहम है कि चलन की अहमियत ज्यादा होती है। लेकिन संभव हो तो करीब के नामों को– वे लोगों के हों, या जगहों के– सही रखने की कोशिश क्यों नहीं करनी चाहिए! खासकर तब जब वे अर्थ का अनर्थ भी करते हों। ऐसी मेरी राय थी।

कोई नहीं जानता कि सिंधु घाटी सभ्यता में शहरों के क्या नाम रहे होंगे। मूअन–जो–दड़ो बाद का नाम है। मुआ यानी मृत; जैसा कि हिंदी में एक कोसना भी है। मूअन बहुवचन का सिंधी प्रयोग है। दड़ा माने टीला। मूअनजो दड़ो: मुर्दों का टीला। रांगेय राघव का इस नाम से हिंदी में एक उपन्यास है। मुख–सुख परंपरा में य–ज या स–ह की तरह उ–ओ में उच्चारण भेद आम है। मसलन मुहर–मोहर, मुहब्बत–मोहब्बत या उसामा–ओसामा। कौन जाने मूअन से मोएन– मोअन होते हुए कब मोहेन–मोहन हो चला हो। अंग्रेजों की मेहरबानी से, बोम्बे–कैलकटा–डेल्ही जैसे अनगिन नामों की तरह। मगर मैंने सही उच्चारण मूअनजो–दड़ो यहां इतनी बार सुन लिया कि अब मुझसे 'मोहनजोदड़ो' नहीं लिखा जाता।

पीरजादा ने पूछा कि पहले अजायबघर देखना पसंद करेंगे या खण्डहर। मैंने कहा, पहले असल मूअनजो–दड़ो चलें। कितना दूर होगा? बोले, अजायबघर तो यह सामने रहा। मूअनजो–दड़ो पांच मिनट का रास्ता है।

पांच मिनट में पांच हजार साल!

इस बीच खयाल चला कि १९२४ में दुनिया के सामने सिंधु घाटी की सभ्यता के उद्‌घोष का श्रेय सर जॉन मार्शल को दिया जाता है, जो पूरे बत्तीस बरस भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण के महानिदेशक रहे। उन्होंने अपने सहयोगियों का हौसला बढ़ाया, उन्हें दिशा दी। खोज की व्याख्या की, कुछ उलझे सूत्रों को जोड़ा और स्थापित किया कि सिंधु घाटी पूरी तरह भारत में पनपी और पली–पुसी संस्कृति थी। लेकिन हकीकत यह है कि हड़प्पा और मूअनजो–दड़ो की बीसवीं सदी की समूची आरंभिक खुदाई भारतीय पुरातत्त्ववेत्ताओं का काम था। इस सिलसिले में सबसे आश्चर्यजनक तथ्य यह है कि सिंधु घाटी के खुदाई अभियान के दौरान ही नहीं, इस खोज की घोषणा से पहले जॉन मार्शल ने खुद हड़प्पा या मूअनजो–दड़ो जाना तक कभी जरूरी नहीं समझा! वे १९२५ में मूअनजो–दड़ो पहुंचे, तब जब लंदन में विशेषज्ञों ने उनकी 'युगांतरकारी खोज' को, उनके अनुमान से युगों पहले, सुमेरी संस्कृति के बरक्स रख कर देखा।

भारतीय पुरातत्त्ववेत्ताओं में सिंधु घाटी में पहले पहुंचे हीरानंद शास्त्री। उन्होंने १९०९ में हड़प्पा (पंजाब) में खुदाई करवाई। हड़प्पा अब पाक पंजाब के साहिवाल जिले में है। हीरानंद भाषाशास्त्री थे और प्रसिद्ध साहित्यकार 'अज्ञेय' के पिता। ('अज्ञेय' का जन्म हड़प्पा की खुदाई के दो वर्ष बाद कुशीनगर के एक शिविर में हुआ।) दिल्ली विश्वविद्यालय की प्रोफेसर नयनजोत लाहिड़ी ने सिंधु घाटी की खुदाई के इतिहास पर महत्त्वपूर्ण काम किया है। उनका मानना है कि शास्त्री की खोज ने इस स्थापना में बुनियाद का काम किया कि सिंधु घाटी में बड़े आकार की ईंटों का प्रयोग हुआ था। डॉ. लाहिड़ी के मुताबिक हड़प्पा पर शास्त्री की मूल रिपोर्ट पुरातत्त्व सर्वेक्षण के अभिलेखों में उपलब्ध नहीं है; शायद खो गई हो।

शास्त्री के बाद १९११ में मूअनजो-दड़ो क्षेत्र में डीआर भंडारकर ने सर्वे किया। हड़प्पा में १९१७ में दयाराम साहनी ने सघन खुदाई करवाई। उनका काम बड़ा था। उन्हें पत्थर की मुहरें मिल गईं। पर यह उपलब्धि भी घाटी की सभ्यता को चिह्नित नहीं कर सकी। उधर मूअनजो-दड़ो में १९२२-२३ में राखालदास बनर्जी ने खुदाई में ऐसी मुहरें पाईं जो हड़प्पा से मेल खाती थीं। गौरतलब है कि तब तक मूअनजो-दड़ो मुंबई प्रेसीडेंसी की (सिंध जिसके तहत था) प्राचीन जगहों की सूची में ही शरीक नहीं था। बनर्जी की खोज के बाद यह पुरातत्त्व का सबसे अहम ठिकाना बन गया। बनर्जी के बाद माधोस्वरूप वत्स ने मूअनजो-दड़ो की खुदाई की कमान संभाली। उनके बाद काशीनाथ दीक्षित ने।

वत्स ने रेखांकित किया कि मूअनजो-दड़ो और हड़प्पा में मुहरों के आगे भी बहुत समानताएं हैं। उनके इस इसरार ने मार्शल के कान खड़े कर दिए कि यह सामान्य जगह नहीं है, यहां मौर्य काल से पुरानी दास्तान निकलनी चाहिए। हालांकि इससे ज्यादा वत्स भी नहीं सोच सके। हड़प्पा और मूअनजो-दड़ो में सैकड़ों मील की दूरी है। पर इस खोज में दोनों की संस्कृति का बहुत निकट का राब्ता निकल आया था। बाद में शिमला में मार्शल ने पुरातत्त्व के इन सभी विद्वानों की बैठक की। खुदाई में निकला सामान परखा। और २० सितंबर, १९२४ को 'इलस्ट्रेटेड लंदन न्यूज' में सिंधु घाटी सभ्यता की अवधारणा और खोज पर लंबा लेख लिख कर भारत को मानो दुनिया की छत पर ला खड़ा किया।

मगर सामने जो टीले पर बौद्ध स्तूप दीखता है, मूअनजो-दड़ो के नाम से मशहूर, उसका सिंधु घाटी सभ्यता से कोई संबंध नहीं है। यह ईसा के बाद का है।